जैन यति परम्परा

□ श्री अगरचन्द नाहटा
नाहटों की गुवाड़, बीकानेर (राजस्थान)

जैनागमों एवं कोषग्रन्थों में यति, साधु, मुनि, निर्ग्रन्थ, अनगार वाचयंम आदि शब्द एकार्थ बोधक माने गये हैं।[1] अर्थात् यति साधु का ही पर्यायवाची शब्द हैं, पर आजकल इन दोनों शब्दों के अर्थ में रात और दिन का अन्तर आ गया है। इसका कारण यह है कि जिन-जिन व्यक्तियों के लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता है, उनके आचार-विचार में बहुत व्यवधान हो गया है। जो यति शब्द किसी समय साधु के समान ही आदरणीय था, आज उसे सुनकर काल-प्रभाव से कुछ और ही भाव उत्पन्न होते हैं। शब्दों के अर्थ में भी समय के प्रभाव से कितना परिवर्तन हो जाता है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

जैन धर्म में साधुओं के आचार बड़े ही कठोर हैं। अतएव उनका यथारीति पालन करना, 'असिधार पर चलने के समान' ही कठिन बतलाया गया है। कहीं-कहीं 'लोहे के चने चबाने' का दृष्टान्त भी दिया गया है, और वास्तव में है भी ऐसा ही। जैन धर्म निवृत्तिप्रधान है, और मनुष्य-प्रकृति का झुकाव प्रवृत्ति मार्ग की ओर अधिक है। पौद्गलिक सुखों की ओर मनुष्य का एक स्वाभाविक आकर्षण-सा है। सुतरां जैन साध्वाचारों के साथ मनुष्य-प्रकृति का संघर्ष अवश्यम्भावी है। इस संघर्ष में जो विजयी होता है, वही सच्चा साधु कहलाता है। समय और परिस्थिति बहुत शक्तिशाली होते हैं, उनका सामना करना टेढ़ी खीर है। इनके प्रभाव को अपने ऊपर न लगने देना बड़े भारी पुरुषार्थ का कार्य है। अतः इस प्रयत्न में बहुत से व्यक्ति विफल-मनोरथ ही नजर आते हैं। विचलित न होकर मोर्चा बाँध कर डटे रहने वाले वीर बिरले ही मिलेंगे। भगवान महावीर ने यही समझकर कठिन से कठिन आचार-विचार को प्रधानता दी है। मनुष्य की प्रकृति जितनी मात्रा में आरामतलब है, उतनी ही मात्रा में कठोरता रखे बिना पतन होते देर नहीं लगती। आचार जितने कठोर होंगे, पतन में भी उतनी देरी और कठिनता होगी। यह बात अवश्य है कि उत्थान में जितना समय लगता है, पतन में उससे कहीं कम समय लगता है।

भगवान महावीर ने, भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायियों की जो दशा केवल दो सौ ही वर्षों में हो गई थी, उसे अपनी आँखों देखा था। अतः उन्होंने नियमों में काफी संशोधन कर ऐसे कठिन नियम बनाये कि जिनके लिए मेधावी श्रमण केशी जैसे बहुश्रुत को भी गणधर गौतम से उनका स्पष्टीकरण कराना पड़ा।[2] सूत्रकारों[3] ने उसे समय की आवश्यकता बतलाई और कहा कि प्रभु महावीर से पहले के व्यक्ति ऋजु-प्राज्ञ थे और महावीर शासन काल के व्यक्तियों का मानस उससे बदल कर वक्र-जड़ की ओर अग्रसर हो रहा था। दो सौ वर्षों के भीतर परिस्थिति ने कितना विषम परिवर्तन कर डाला, इसका यह स्पष्ट प्रमाण है। महावीर ने परिधान की अपेक्षा अचेलकत्व को अधिक महत्त्व दिया, और इसी प्रकार अन्य कई नियमों को भी अधिक कठोर रूप दिया।

---

१. अथ मुमुक्षुः श्रमणा यतिः ॥६५॥ वाचयंमो व्रती साधुरनगार ऋषिर्मुनिः निर्ग्रन्थो भिक्षुः। यत ते मोक्षयंति यतिः (मोक्ष में यत्न करने वाला यति है), यतं यमनमस्त्यस्य यती (नियमन—नियन्त्रण रखने वाला यति है।) अभिधान चिन्तामणि। जइ (पु०) यति, साधु, जितेन्द्रिय संन्यासी (औपपातिक, सुपार्श्व, पाइअ सद्द महण्णवो, भा० २, पृ० ४२६)।

२. उत्तराध्ययन सूत्र 'केशी-गौतम—अध्ययन' ३. कल्पसूत्र।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान की ही दूरदर्शिता का यह सुफल है कि आज भी जैन साधु संसार के किसी भी धर्म के साधुओं से अधिक सात्त्विक और कठोर नियमों—आचारों को पालन करने वाले हैं अन्यथा बौद्ध और वैष्णवों की भाँति अवस्था हुए बिना नहीं रहती। पर यह भी तो मानना ही पड़ेगा कि परिस्थिति ने जैन मुनियों के आचारों में भी बहुत कुछ शिथिलता प्रविष्ट करा दी। उसी शिथिलता का चरम शिकार हमारा वर्तमान यति समाज है।

इस परिस्थिति के उत्पन्न होने में मनुष्य-प्रकृति के अलावा और भी कई कारण हैं—जैसे (१) बारहवर्षीय दुष्काल (२) राज्य-विप्लव, (३) अन्य-धर्मों का प्रभाव, (४) निरंकुशता—स्वच्छन्दता, (५) समय की प्रतिकूलता, (६) शरीर-गठन (७) संगठन शक्ति की कमी इत्यादि।

प्रकृति के नियमानुसार पतन एकाएक न होकर क्रमशः हुआ करता है। हम अपने चर्म-चक्षु और स्थूलबुद्धि से उस क्रमशः होने वाले पतन की कल्पना भी नहीं कर सकते, पर परिस्थिति तो अपना काम किये ही जाती है। जब वह परिवर्तन बोधगम्य होता है, तभी हमें उसका सहसा भान होता है। "अरे! थोड़े समय पहले ही क्या था और क्या हो गया? और हमारे देखते देखते ही?" यही बात हमारे साधुओं की शिथिलता के बारे में लागू होती है। बारह वर्ष के दुष्काल आदि के कारणों ने उनके आचार को इतना शिथिल बना दिया कि वह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते चैत्यवास के रूप में परिणत हो गया। चैत्यवास की उत्पत्ति का समय विद्वानों ने वीर संवत् ८८२ में बतलाया है, पर वास्तव में वह समय प्रारम्भ का न होकर मध्यकाल का है।[1] जैसा कि ऊपर कहा गया है कि परिवर्तन बोधगम्य हुए बिना हमारी समझ में नहीं आ सकता।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि भविष्य जब पतन या उत्थान का होता है तब एक ही ओर से पतन या उत्थान नहीं होता, वह चारों ओर से प्रवेश कर अपना घर बना लेता है। यही बात जैन श्रमण संस्था पर लागू है। जैनागमों के अनुशीलन से पता चलता है कि पहले ज्ञानबल घटने लगा। जम्बूस्वामी से केवलज्ञान-विच्छेद हो गया, भद्रबाहु से ११ से १४ पूर्व का अर्थ, स्थूलभद्र से ११-१४वाँ पूर्व मूल और वज्रस्वामी से १० पूर्व का ज्ञान भी विच्छिन्न हो गया।[2] इस प्रकार क्रमशः ज्ञान-बल घटा और साथ ही साथ चारित्र की उत्कट भावनाएँ एवं आचरणाएँ भी कम होने लगीं। छोटी-बड़ी बहुत कमजोरियों ने एक ही साथ आ दबाया। इन साधारण कमजोरियों को नगण्य समझकर पहले तो उपेक्षा की जाती है। पर एक कमजोरी आगे चलकर प्रकट होकर पड़ोसिन बहुत ही कमजोरियों को बुला लेती है. यह बात हमारे व्यावहारिक जीवन से स्पष्ट है। प्रारम्भ में जिस शिथिलता को, साधारण समझकर अपवाद मार्ग के रूप में अपनाया गया था, वही आगे चल कर राजमार्ग बन गई। द्वादशवर्षीय दुष्काल में मुनियों को अनिच्छा से भी कुछ दोषों के भागी बनना पड़ा था, पर दुष्काल निवर्तन के पश्चात् भी उनमें से कई व्यक्ति उन दोषों को विधान के रूप में स्वीकार कर खुल्लमखुल्ला पोषण करने लगे। उनकी प्रबलता और प्रधानता के आगे सुविहिताचारी मुनियों की कुछ नहीं चल सकी।

सम्राट संप्रति[3] के समय जैन मन्दिरों की संख्या बहुत बढ़ गई। मुनिगण इन मन्दिरों को अपने ज्ञान-विज्ञान के कार्य में साधक समझकर वहीं उतरने लगे। वन को उपद्रवकारक समझकर, क्रमशः वहीं ठहरने एवं स्थायी रूप से रहने लगे। इस कारण से उन मन्दिरों की देखभाल का काम भी उनके जिम्मे आ पड़ा और क्रमशः मन्दिरों के साथ उनका सम्पर्क इतना बढ़ गया कि वे मन्दिरों को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने लगे। चैत्यवास का स्थूल रूप यहीं से प्रारम्भ हुआ मालूम पड़ता है। एक स्थान में रहने के कारण लोक-संसर्ग बढ़ने लगा। कई व्यक्ति

---

१. पुरातत्त्वविद श्री कल्याणविजयजी ने भी प्रभावक चरित्र पर्यालोचन में यही मत व्यक्त किया है।

२. इस सम्बन्ध में दिगम्बर मान्यता के लिए 'अनेकान्त' वर्ष ३, किरण १ द्रष्टव्य है।

३. कहा जाता है सम्प्रति ने साधुओं की विशेष भक्ति से प्रेरित होकर कई ऐसे कार्य किये जिनसे उनको शुद्ध आहार मिलना कठिन हुआ और राजाश्रय से शिथिलता भी आ गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके दृढ़ अनुयायी और अनुरागी हो गये। इसी से गच्छों की बाड़ाबन्दी की नींव पड़ी। जिस परम्परा में कोई समर्थ आचार्य हुआ और उसके पृष्ठपोषक तथा अनुयायियों की संख्या बढ़ी, वही परम्परा एक स्वतन्त्र गच्छ के रूप में परिणत हो गई। बहुत से गच्छों के नाम तो स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हो गये। रुद्रपल्लीय, सडेरक, उपकेश इत्यादि इस बात के अच्छे उदाहरण हैं। कई उस परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य के किसी विशिष्ट कार्य से प्रसिद्ध हुए, जैसे खरतर, तपा आदि। विद्वत्ता आदि सद्गुणों के कारण उनके प्रभाव का विस्तार होने लगा और राजदरबारों में भी उनकी प्रतिष्ठा जम गई। जनता में तो प्रभाव था ही, राजाश्रय भी मिल गया, बस और चाहिए क्या था? परिग्रह बढ़ने लगा, वह शाही ठाटबाट-सा हो गया। गद्दी तकियों के सहारे बैठना, पान खाना, स्नान करना, शारीरिक सौन्दर्य को बढ़ाने के साधनों का उपयोग, जैसे बाल रखना, सुगंधित तेल और इत्र-फुलेलादि सेवन करना, और पुष्पमालाओं को पहनना आदि विविध प्रकार के आगम-विरुद्ध आचरण प्रचलित हो गये।[1]

सुविहित मुनियों को यह बातें बहुत अखरीं, उन्होंने सुधार का प्रयत्न भी किया, पर शिथिलाचारियों के प्रबल प्रभाव और अपने पूर्ण प्रयत्न के अभाव के कारण सफल नहीं हो सके। समर्थ आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अपने संबोध-प्रकरण में चैत्यवासियों का बहुत कड़े शब्दों में विरोध किया है। इस प्रकरण से चैत्यवास का स्वरूप स्पष्ट रूप में प्रकट होता है। कहावत है कि पाप का घड़ा भरे बिना नहीं फूटता। समय के परिपाक के पूरे होने पर कार्य हुआ करते हैं। व्रण भी जब तक पूरा नहीं पक जाता तब तक नहीं फूटता। ग्यारहवीं शताब्दी में चैत्यवासियों का प्राबल्य इतना बढ़ गया कि सुविहितों को उतरने या ठहरने का स्थान तक नहीं मिलता था। पाटण उस समय उनका केन्द्र स्थान था। कहा जाता है कि वहाँ उस समय चैत्यवासी चौरासी आचार्यों के अलग-अलग उपाश्रय थे। सुविहितों में उस समय श्री वर्द्धमानसूरि मुख्य थे। उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि से जैन मुनियों की इतनी मार्गभ्रष्टता न देखी गई, अतः उन्होंने गुरुजी से निवेदन किया कि पाटण जाकर जनता को सच्चे साधुत्व का ज्ञान कराना चाहिए, जिससे कि धर्म, जो कि केवल बाहर के आडम्बरों में ही माना जाने लगा है, वास्तविक रूप में स्थापित हो सके। इन विचारों के प्रबल आन्दोलन से उनमें नये साहस का संचार हुआ और वे १८ मुनियों के साथ पाटण पधारे। उस समय उन्हें वहाँ ठहरने के लिए स्थान भी नहीं मिला, पर आखिर उन्होंने अपनी प्रतिभा से स्थानीय राजपुरोहित को प्रभावित कर लिया, और उसी के यहाँ ठहरे। जैसा कि पहले सोचा गया था चैत्यवासियों के साथ विरोध और मुठभेड़ अवश्यम्भावी थी। उन लोगों ने जिनेश्वरसूरि के आने का समाचार पाते ही जिस किसी प्रकार से उन्हें लांछित कर निर्वाचित कराने की ठान ली। विरुद्ध प्रचार उनका पहला हथियार था। उन्होंने अपने कई शिष्यों और आश्रित व्यक्तियों को यह कहा कि तुम लोग सर्वत्र इस बात का प्रचार करो कि "यह साधु अन्य राजाओं के छद्मवेशी गुप्तचर हैं, यहाँ का आन्तरिक भेद प्राप्त कर राज्य का अनिष्ट करेंगे। अतः इनका यहाँ रहना मंगलजनक न होकर उलटा भयावह ही है। जितना शीघ्र हो सके, इनको यहाँ से निकाल देना चाहिए। राष्ट्र के हित में लिए हमें इस बात का स्पष्टीकरण करना पड़ रहा है।" फैलते-फैलते यह बात तत्कालीन नृपति दुर्लभराज के कानों में पहुँची। उन्होंने राजपुरोहित से पूछा और उससे सच्ची वस्तुस्थिति जानने पर उनके विस्मय का पार न रहा, कि ऐसे साधुओं के विरुद्ध ऐसा घृणित और निन्दनीय प्रयत्न।

समय का परिपाक हो चुका था, चैत्यवासियों ने अन्य भी बहुत प्रयत्न किये, पर सब निष्फल हुए। इसके उपरान्त चैत्यवासियों से श्री जिनेश्वरसूरिजी का शास्त्रार्थ हुआ, चैत्यवासियों की बुरी तरह से हार हुई।[2] तभी से सुविहिताचारियों का प्रभाव बढ़ने लगा। जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि, और जिनपतिसूरि, इन चार

१. विशेष जानने के लिए देखें—हरिभद्रसूरि रचित संबोध प्रकरण, गणधर सार्द्धशतक बृहद् वृत्ति, संघपट्टक वृत्ति आदि। पं० बेचरदास दोशी रचित, जैन साहित्य मा विकास अवायी भयेली हानी, ग्रन्थ में भी सम्बोध-सत्तरी के आधार से अच्छा प्रकाश डाला गया है।

२. विशेष वर्णन के लिए देखें—सं० १२९५ में रचित 'गणधर सार्द्धशतक बृहद्वृत्ति'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यों के प्रबल पुरुषार्थ और असाधारण प्रतिभा से चैत्यवासियों की जड़ खोखली हो गई। जिनदत्त तो इतने अधिक प्रभावशाली व समर्थ आचार्य हुए कि विरोधी चैत्यवासियों में से कई आचार्य स्वयं उनके शिष्य बन गये। जिनपतिसूरि के बाद तो चैत्यवासियों की अवस्था हतप्रभाव हो गई। उनकी शक्ति अब विरोध एवं शास्त्रार्थ करने की तो दूर की बात, अपने घर को संभाल रखने में भी पूर्ण समर्थ नहीं रही थी, कई आत्मकल्याण के इच्छुक चैत्यवासियों ने सुविहित मार्ग को स्वीकार कर उसे प्रचारित किया। उनकी परम्परा से कई प्रसिद्ध गच्छ प्रसिद्ध हुए। खरतरगच्छ के मूल-पुरुष वर्द्धमानसूरि भी पहले चैत्यवासी थे। इसी प्रकार तपागच्छ के जगच्चन्द्रसूरि ने भी क्रिया उद्धार किया। इन्हीं के प्रसिद्ध खरतरगच्छ तथा तपागच्छ आज भी विद्यमान हैं। वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने दुर्लभराज की सभा में (सं० १०७०-७५) चैत्यवासियों पर विजय प्राप्त की। अत: खरे—सच्चे होने के कारण वह 'खरतर' कहलाये और जगच्चन्द्रसूरि ने १२ वर्षों की आयंबिल की तपश्चर्या की। इससे वे 'तपा' (सं० १२८५) कहलाये। इसी प्रकार अन्य कई गच्छों का भी इतिहास है।

इसके बाद मुसलमानों की चढ़ाइयों के कारण भारतवर्ष पर अशान्ति के बादल उमड़ पड़े। उनका प्रभाव श्रमण-संस्था पर पड़े बिना कैसे रह सकता था? जनसाधारण के नाकों दम था। धर्म-साधना में भी शिथिलता आ गयी थी क्योंकि उस समय तो लोगों के प्राणों पर संकट बीत रहा था। फलत: मुनियों के आचरण में भी काफी शिथिलता आ गयी थी। यह विषम अवस्था यद्यपि परिस्थिति के अधीन हुई, फिर भी मनुष्य की प्रकृति के अनुसार एक बार पतनोन्मुख होने के बाद फिर संभलना कठिनता और विलंब से होता है। अत: शिथिलता दिन व दिन बढ़ने ही लगी। उस समय यत्र-तत्र पैदल विहार करना विघ्नों से परिपूर्ण था। यवनों की मार अचानक कहीं से कहीं आ पड़ती, देखते-देखते शहर उजाड़ और वीरान हो जाते। लूट-खसोटकर यवन लोग हिन्दुओं के देवमन्दिरों को तोड़ डालते, लोगों को बेहद सताते और भाँति-भाँति के अत्याचार करते। ऐसी परिस्थिति में श्रावक लोग मुनियों की सेवा, संभाल और उचित भक्ति नहीं कर सके, यह अस्वाभाविक भी नहीं था।

शिथिलता क्रमशः बढ़ती गयी, यहाँ तक कि १६वीं शताब्दी में सुधार की आवश्यकता आ पड़ी। चारों ओर से सुधार के लिए व्यग्र आवाजें सुनायी देने लगीं। वास्तव में परिस्थति ने क्रांति-सी मचा दी। श्रावक समाज में भी जागृति फैली। सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रथम लोंकाशाह (सं० १५३०) ने विरोध की आवाज उठायी, कड़वाहशाह ने उस समय के साधुओं को देख वर्तमान काल (१५६२) में शुद्ध साध्वाचार का पालन करना असम्भव बतलाया और 'संवरी श्रावकों' का एक नया पंथ निकाला, पर यह मूर्तिपूजा को माना करते थे। लोंकाशाह ने मूर्तिपूजा का भी विरोध किया पर सुविहित मुनियों के शास्त्रीय प्रमाण और युक्तियों के मुकाबले उनका यह विरोध टिक नहीं सका। पचास वर्ष नहीं बीते कि उन्हीं के अनुयायियों में से बहुतों से पुनः मूर्तिपूजा को स्वीकार कर लिया।[1] बहुत से शास्त्रार्थ में पराजित होकर सुविहित मुनियों के पास दीक्षित हो गये। सुविहित मुनियों के तर्क शास्त्र-सम्मत, प्रमाण-युक्त, युक्ति-युक्त और समीचीन थे, उनके विरुद्ध टिके रहने की विद्वत्ता और सामर्थ्य विरोधियों में नहीं थी।

इधर आत्मकल्याण के इच्छुक कई गच्छों के आचार्यों में भी अपने-अपने समुदाय के सुधार करने की भावना का उदय हुआ, क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं शास्त्रविहित मार्ग का अनुसरण नहीं करता, उसका प्रभाव दिन-व-दिन कम होता चला जाता है। खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनमाणिक्यसूरि ने अपने गच्छ का सुधार करने का निश्चय कर लिया और इसी उद्देश्य से वे जिनकुशलसूरि के दर्शनार्थ देशावर पधारे। पर भावी प्रबल है, मनुष्य सोचता कुछ है, होता और कुछ ही है। मार्ग में ही उनका स्वर्गवास हो गया, अत: वे अपनी इच्छा को सफल और कार्य रूप में

१. उदाहरण के लिए सं० १५७७ में लोकामत से बीजामत निकला जिसने मूर्तिपूजा स्वीकृत की (धर्मसागर रचित पदावली एवं प्रवचन परीक्षा)। जैनेतर समाज में भी इस समय कई मूर्तिपूजा के विरोधी मत निकले, पर अन्त में उन्होंने भी मूर्तिपूजा स्वीकार की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणत नहीं कर सके। उनके तिरोभाव के बाद उनके सुयोग्य शिष्य श्री जिनचन्द्रसूरि ने अपने गुरुदेव की अन्तिम आदर्श भावना को सफलीभूत बनाने के लिए वि० सं० १६१३ में बीकानेर में क्रिया-उद्धार किया।[1] इसी प्रकार तपागच्छ में आनन्दविमलसूरि ने सं० १५८२ में, नागोरी तपागच्छ के पार्श्वचन्द्रसूरि ने सं० १५६५ में, अंचलगच्छ के धर्ममूर्तिसूरि ने सं० १६१४ में क्रिया-उद्धार किया।

सत्रहवीं शताब्दी में साध्वाचार यथारीति पालन होने लगा। पर वह परम्परा भी अधिक दिन कायम नहीं रह सकी, फिर उसी शिथिलता का आगमन होना शुरू हो गया, १६८७ के दुष्काल[2] का भी इसमें कुछ हाथ था।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शिथिलता का रूप प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा, खरतरगच्छ में जिनरत्नसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि ने शिथिलाचार पर नियन्त्रण करने के लिए सं० १७१८ की विजयादशमी को कुछ नियम[3]

---

१. विशेष जानने के लिये देखें, हमारे द्वारा लिखित 'युग प्रधान जिनचन्द्रसूरि'।

२. इस दुष्काल का विशद वर्णन कविवर समयसुन्दर ने किया है। इस दुष्काल के प्रभाव से उत्पन्न हुई शिथिलता के परिहारार्थ समयसुन्दरजी ने सं० १६८२ में क्रिया उद्धार किया था।

३. समय-समय पर गच्छ की सुव्यवस्था के लिए ऐसे कई व्यवस्था पत्र तपा और खरतर गच्छ के आचार्यों ने जारी किये, जिनमें से प्रकाशित व्यवस्था-पत्रों की सूची इस प्रकार है—

(क) जिनप्रभसूरि (चौदहवीं शताब्दी) का व्यवस्थापत्र (प्र० जिनदत्तसूरि चरित्र जयसागरसूरि लि०)

(ख) तपा सोमसुन्दरसूरि-रचित संविज्ञ साधु योग्य कुलक के नियम (प्र० जैनधर्मप्रकाश, वर्ष ५२, अंक ३, पृ० ३)

(ग) सं० १५८३ ज्येष्ठ, पट्टन में तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि का 'मर्यादापट्टक' (प्र० जैन सत्यप्रकाश, वर्ष २, अंक ३, पृ० ११२)

(घ) सं० १६१३ जिनचन्द्रसूरि का क्रिया उद्धार नियम पत्र (प्र० हमारे द्वारा लि० युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि)

(ङ) सं० १६४६ पो० सु० १३ पत्तनं हीरविजयसूरि पट्टक (जैन सत्य प्रकाश, वर्ष २, अंक २, पृ० ७५)

(च) सं० १६७७ वै० सु० ७ सावली में विजयदेवसूरि का साधु मर्यादा पट्टक (प्र० जैन धर्म प्रकाश, वर्ष ५२, अंक १, पृ० १७)।

(छ) सं १७११ मा० सु० १३ पतन, विजयसिंहसूरि (प्र० जैन धर्म प्रकाश, वर्ष ५२, अंक २, पृ० ५५)

(ज) सं० १७३८ मा० सु० ६ विजयक्षमासूरि पट्टक (जैन सत्यप्रकाश, वर्ष, २ अंक ६ पृ० ३७८)

(झ) उपर्युक्त जिनचन्द्रसूरि का पत्र अप्रकाशित हमारे संग्रह में है। इन मर्यादा पट्टकों से तत्कालीन यति समाज की अवस्था का बहुत कुछ परिचय मिलता है। नं० 'झ' व्यवस्थापत्र अप्रकाशित होने के कारण उससे *तत्कालीन परिस्थिति का जो तथ्य प्रकट होता है वह नीचे लिखा जाता है—*

(अ) यतियों में क्रय-विक्रय की प्रथा जोर पर हो चली थी, श्रावकों की भाँति व्याज-बट्टे का काम भी जारी हो चुका था, पुस्तकें लिख कर बेचने लगे थे। शिक्षादि का भी क्रय-विक्रय होता था।

(आ) वे उद्भट उज्ज्वल वेष धारण करते थे। हाथ में धारण करने वाले डण्डे के ऊपर दांत का मोगरा और नीचे लोहे की सांब भी रखते थे।

(इ) यति लोग पुस्तकों के भार को वहन करने के लिए शकट, ऊँट, नौकर आदि साथ लेते थे।

(ई) ज्योतिष, वैद्यक आदि का प्रयोग करते थे, जन्म-पत्रियाँ बनाते व औषधादि देते।

(उ) धातु का भाजन, धातु की प्रतिमादि रख पूजन करते थे।

(ऊ) सात-आठ वर्ष से छोटे एवं अशुद्ध जाति के बालकों को शिष्य बना लेते थे, लोच करने एवं प्रतिक्रमण करने की शिथिलता थी।

(ए) साध्वियों को विहार में साथ रखते थे। ब्रह्मचर्य यथारीति पालन नहीं करते थे।

(ऐ) परस्पर झगड़ा करते थे, एक-दूसरे की निन्दा करते थे। (अठारहवीं शताब्दी के यति और श्रीपूज्यों के पारस्परिक युद्धों तथा मार-पीट के दो बृहद वर्णन हमारे संग्रह में भी हैं।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनाये। एक बात का स्पष्टीकरण करना यहाँ आवश्यक है कि यद्यपि शिथिलाचार का प्रभाव दिन-ब-दिन बढ़ रहा था, फिर भी उस समय जैनाचार्यों का प्रभाव साधु एवं श्रावक संघ पर बहुत अच्छा था, अतः उनके नियन्त्रण का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता था। उनके आदेश का उल्लंघन करना मामूली बात नहीं थी, उल्लंघनकारी को उचित दण्ड मिलता था। आज जैसी स्वेच्छाचारिता उस समय नहीं थी। इसी के कारण सुधार होने में सरलता थी।

अठारहवीं शताब्दी में गच्छ नेता स्वयं शिथिलाचारी हो गये, अतः सुधार की ओर उनका लक्ष्य कम हो गया। इस दशा में कई आत्मकल्याणेच्छुक मुनियों ने स्वयं क्रिया उद्धार किया। उनमें खरतरगच्छ में श्रीमद्देवचन्द्रजी (सं० १७७७) और तपागच्छ में श्री सत्यविजय पन्यास प्रसिद्ध हैं। उपाध्याय यशोविजय भी आपके सहयोगी बने। इस समय की परिस्थिति का विशद विवरण यशोविजय जी के 'श्रीमंधर स्वामी' विनती आदि में मिलता है।

अठारहवीं शताब्दी के शिथिलाचार में द्रव्य रखना प्रारम्भ हुआ था। पर इस समय तक यति समाज में विद्वत्ता एवं ब्रह्मचर्य आदि सद्गुणों की कमी नहीं थी। वैद्यक, ज्योतिष आदि में इन्होंने अच्छा नाम कमाना आरम्भ किया। आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी से यति-समाज में दोनों दुर्गुणों (विद्वत्ता की कमी और असदाचार) का प्रवेश होने लगा। आपसी झगड़ों ने आचार्यों की सत्ता और प्रभाव को भी कम कर दिया। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रमशः दोनों दुर्गुण बढते नजर आते हैं। वे बढ़ते-बढते वर्तमान अवस्था में उपस्थित हुए हैं। कई श्रीपूज्यों ने यतिनियों का दीक्षित करना व्यभिचार के प्रचार में साधक समझकर यतिनियों दीक्षा देना बन्द कर दिया। इनमें खरतर गच्छ के जयपुर शाखा वाले भी एक हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तो यति लोग धनाढ्य कहलाने लग गये। परिग्रह का बोझ एवं विलासिता बढ़ने लगी। राजदरबार से कई गाँव जागीर के रूप में मिल गये। हजारों रुपये वे ब्याज पर देने लगे, खेती करवाने लगे, सवारियों पर चढ़ने लगे, स्वयं गाय, भैंस, ऊँट इत्यादि रखने लगे। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे एक प्रकार से घर-गृहस्थी-से बन गये। उनका परिग्रह राजशाही ठाट-बाट सा हो गया। वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र में ये सिद्धहस्त कहलाने लगे और वास्तव में इस समय इनकी विशेष प्रसिद्धि एवं प्रभाव का कारण ये ही विद्याएँ थीं। अठारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध धर्मवर्द्धनजी ने भी अपने समय के यतियों की विद्वत्ता एवं प्रभाव विषय में कवित्त रचना करके अच्छा वर्णन किया है।

औरंगजेब के समय से भारत की अवस्था फिर शोचनीय हो उठी, जनता को धन-जन की काफी हानि उठानी पड़ी। आपसी लड़ाइयों में राज्य के कोष खाली होने लगे तो उन्होंने भी प्रजा से अनुचित लाभ उठा कर द्रव्य संग्रह की ठान ली। इससे जन-साधारण की आर्थिक अवस्था बहुत गिर गई, जैन श्रावकों के पास भी नगद रुपयों की बहुत कमी हो गई। जिनके पास ५-१० हजार रुपये होते वे तो अच्छे साहूकार गिने जाते थे, साधारणतया ग्राम निवासी जनता का मुख्य आधार कृषि जीवन था, फसलें ठीक न होने के कारण उनका भी सहारा कम होने लगा, तब श्रावक लोग, जो साधारण स्थिति के थे, यतियों के पास से ब्याज पर रुपये लेने लगे। अतः आर्थिक सहायता के कारण कई श्रावक यतियों के दबैल से बन गये, कई वैद्यक, तन्त्र-मंत्र आदि के द्वारा अपने स्वार्थ साधनों में सहायक एवं उपकारी समझ उन्हें मानते रहे, फलतः संघसत्ता क्षीण-सी हो गई। यतियों को पुनः कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करने की सामर्थ्य उनमें नहीं रही। इससे निरंकुशता एवं नेतृत्वहीनता के कारण यति समाज में शिथिलाचार स्वच्छन्दता पनपती एवं बढ़ती गई। यति समाज ने भी रुख बदल डाला। धम प्रचार के साथ-साथ परोपकार को उन्होंने स्वीकार किया, श्रावक आदि के बालकों को वे शिक्षा देने लगे, जन्मपत्री बनाना, मुहूर्तादि बतलाना, रोगों के प्रतिकारार्थ औषधोपचार चालू करने लगे, जिनसे उनकी मान्यता पूर्ववत् बनी रहे।

उनकी विद्वत्ता की धाक राज-दरबारों में भी अच्छी जमी हुई थी, अतः राजाओं से उन्हें अच्छा सम्मान प्राप्त था, अपने चमत्कारों से उन्होंने काफी प्रभाव बढ़ा रखा था। इस राज्य-सम्बन्ध एवं प्रभाव के कारण जब स्थानकवासी मत निकला, तब उनके साधुओं के लिये इन्होंने बीकानेर, जोधपुर आदि से ऐसे आज्ञापत्र भी जारी करवा दिये, जिनसे वे उन राज्यों में प्रवेश भी नहीं कर सकें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८वीं शताब्दी तक यति समाज में ज्ञानोपासना सतत चालू थी, अत: उनके रचित बहुत से अच्छे-अच्छे ग्रन्थ इस समय तक के मिलते हैं, पर १८वीं शताब्दी से ज्ञानोपासना क्रमश: घटती चली। अत: इस शताब्दी के बाद विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ बहुत कम मिलते हैं। और वह घटते-घटते वर्तमान अवस्था को प्राप्त हो गई।

यति समाज की पूर्वावस्था के इतिहास पर सरसरी तौर के ऊपर विचार किया गया। इस उत्थान-पतनकाल के मध्य में यति समाज में धुरंधर विद्वान, शासन प्रभावक, राज्य-सम्मान प्राप्त अनेक महापुरुष हो गये हैं, जिन्होंने जैन शासन की बड़ी भारी सेवा की है, प्रभाव विस्तार किया है, अन्य आक्रमणों से रक्षा की है एवं लाखों जैनेतरों को जैन बनाया, हजारों अनमोल ग्रन्थ-रत्नों का निर्माण किया, जिसके लिये जैन समाज उनका चिरऋणी रहेगा। अब यति समाज की वर्तमान अवस्था[1] का अवलोकन करते हुए इनका पुन: उत्थान कैसे हो इस पर कुछ विचार द्रष्टव्य हैं।

जो पहले साधु या मुनि कहलाते थे, वही अब यति कहलाते हैं। पतन की चरम सीमा हो चुकी है। जो शास्त्रीय ज्ञान को अपना आभूषण समझते थे, ज्ञानोपासना जिनका व्यसन-सा था, वे अब आजीविका, धनोपार्जन और प्रतिष्ठा रक्षा के लिये वैद्यक, ज्योतिष और मंत्र-तंत्र के ज्ञान को ही मुख्यता देने लगे हैं। कई महात्मा तो ऐसे मिलेंगे जिन्हें प्रतिक्रमण के पाठ भी पूरे नहीं आते। गम्भीर शास्त्रालोचन के योग्य तो अब शायद ही कोई व्यक्ति खोजने पर मिले। क्रियाकाण्डों को जो करवा सकते हैं (प्रतिक्रमण, पोसह, पर्व व्याख्यान वाचन, तप, उद्यापन एवं प्रतिष्ठाविधि) वे अब विद्वान गिने जाने लगे हैं।

जिस ज्ञानधन को उनके पूर्वजों ने बड़े ही कष्ट से लिख-लिखकर संचित एवं सुरक्षित रखा, वे अमूल्य हस्त-लिखित ग्रन्थों को संभालते तक नहीं। वे ग्रन्थ दीमकों के भक्ष्य बन गये, उनके पृष्ठ नष्ट हो गये, सर्दी आदि से सुरक्षा न कर सकने के कारण ग्रन्थों के पत्र चिपक कर थोपड़े हो गये। (हमारे संग्रह में ऐसे अनेक ग्रन्थ सुरक्षित हैं।) नवीन रचने की विद्वत्ता को तो सदा के लिये प्रणाम कर दिया, पुराने संचित ज्ञानधन की भी इतनी दुर्दशा हो रही है कि उसे सुनकर आँसू बहाने पड़ रहे हैं। सहज विचार आता है कि इन ग्रन्थों को लिखते समय उनके पूर्वजनों ने कैसे भव्य मनोरथ किये होंगे कि हमारे सपूत इन्हें पढ-पढ़कर अपनी आत्मा एवं संसार का उपकार करेंगे। पर आज अपने ही योग्य वंशजों के हाथ इन ग्रन्थों की ऐसी दुर्दशा देखकर पूर्वजों की स्वर्गस्थ आत्माएँ मन ही मन न जाने क्या सोचती होंगी? उन्होंने अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में कई बातें ऐसी लिख रखी हैं कि उन्हें ध्यान से पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसा काम नहीं कर सकता।

मग्न दृष्टि कटि ग्रीवा, वक्रदृष्टिरधोमुखम्।
कष्टेन लिख्यते शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥

ग्रन्थों की सुरक्षा की व्यवस्था करते हुए लिखा है—

जलाद्रक्षेत् स्थलाद्रक्षेत् रक्षेत् शिथिलबन्धनात्।
मूर्खहस्ते न दातव्या एवं वदति पुस्तिका॥
अग्ने रक्षेत् जलाद्रक्षेत् मूषकेभ्यो विशेषतः।
उदकानिलचौरेभ्यो मूषकेभ्यो हुताशनात्॥
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्॥

मुनि आचार की तो गंध भी नहीं रहने पाई, पर जब हम उन्हें श्रावकों के कर्तव्य से भी च्युत देखते हैं, तब कलेजा धड़क उठता है, बुद्धि भी कुछ काम नहीं देती कि हुआ क्या? भगवान् महावीर की वाणी को सुनाने वाले

१. इसका संक्षेप में कुछ वर्णन कानूराम बरड़िया लिखित 'ओसवाल समाज की वर्तमान परिस्थिति' में भी पाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेशकों[1] की भी क्या यह हालत हो सकती है ? जिस बात की सम्भावना तो क्या, कल्पना भी नहीं की जा सकती, आज वह हमारे सामने उपस्थित है। बहुतों के तो न रात्रिभोजन का विचार, न अभक्ष्य वस्तुओं का परहेज, न सामायिक प्रतिक्रमण या क्रियाकाण्ड और नवकारसी का पता। आज इनमें कई व्यक्ति तो भाँग-गाँजा आदि नशीली चीजों का सेवन करते हैं। बाजारों में वृष्टि आदि का सौदा करते हैं। उपाश्रयों में रसोई बनाते हैं, व्यभिचार का बोलबाला है। अतएव जगत की दृष्टि में वे बहुत गिर चुके हैं।[2] पंच महाव्रतों का तो पता ही नहीं, अणुव्रतधारी श्रावकों से भी इनमें से कई तो गये-बीते हैं।

यतिनियों की तो बात ही न पूछिए, उनके पतन की हद हो चुकी है, उनकी चरित्रहीनता जैन समाज के लिये कलंक का कारण हो रही है। यति समाज की यह दशा आँखों देखकर विवेकी यतियों के हृदय में सामूहिक सुधार की भावना जागृत हुई थी, खरतर गच्छ के बालचन्द्राचार्य आदि के प्रयत्न के फल से सं० १९६३ में उनकी एक कान्फ्रेन्स हुई थी और उसमें कई अच्छे प्रस्ताव भी पास हुए थे, यथा (१) व्यावहारिक और धार्मिक शिक्षा का सुप्रबन्ध (२) बाह्य व्यवहार शुद्धि (३) ज्ञानोपकरण की सुव्यवस्था (हस्तलिखित ग्रन्थों का न बेचना) (४) संगठन (५) यति डायरेक्टरी प्रकाशन आदि। उस कान्फ्रेन्स का दूसरा अधिवेशन हुआ या नहीं, अज्ञात है। अभी फिर सं० १९९१ में बीकानेर राजपूताना प्रांतीय यति-सम्मेलन हुआ था और उसका दूसरा अधिवेशन भी फलौदी में हुआ था, पर सभी कुछ परिणाम-शून्य ही रहा।

अब भी समय है कि युगप्रधान जिनचन्द्रसूरिजी की तरह कुछ सत्ता—बल का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। एक विद्यालय, ब्रह्मचर्य-आश्रम, केवल यति-शिष्यों की शिक्षा के लिए खोला जाय। यहाँ पर अमुक डिग्री तक प्रत्येक यति शिष्य को पढ़ना लाजिमी किया जाय, उपदेशक के योग्य पढ़ाई की सुव्यवस्था की जाय। उनसे जो विद्यार्थी निकलें उनके खर्च आदि का योग्य प्रबन्ध करके उन्हें स्थान-स्थान पर उपदेशकों के रूप में प्रचार कार्य में नियुक्त कर दें, ताकि उन्हें जैन धर्म की सेवा का सुयोग मिले। श्रावक समाज का उसमें काफी सहयोग होना आवश्यक है।

□

---

१. श्वेताम्बर समाज में जिस प्रकार यति समाज है, दिगम्बर समाज में लगभग वैसे ही 'भट्टारक' प्रणाली का इतिहास आदि जानने के लिए 'जैन हितैषी' में श्री नाथूरामजी प्रेमी का निबन्ध एवं जैनमित्र कार्यालय, सूरत से प्राप्त 'भट्टारक-मीमांसा' ग्रंथ पढ़ना चाहिए।

२. इसीलिए राजपूताना प्रान्तीय प्रथम यति सम्मेलन (संवत् १८८१, बीकानेर) में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये गये थे। खेद है उनका पालन नहीं हो सका। (क) उद्भट वेश न करना (ख) दवा आदि के सिवा जमीकन्द आदि के त्याग का भरसक प्रयत्न करना (ग) दवा आदि के सिवा पंचतिथियों में हरी वनस्पति आदि के त्याग का भरसक प्रयत्न करना (घ) रात्रिभोजन के त्याग की चेष्टा करना (ङ) आवश्यकता के सिवाय रात को उपाश्रय से बाहर न जाना (च) अंग्रेजी फैशन के बाल न रखना (छ) दीक्षित यति को साग-सब्जी खरीदने के समय बाजार न जाना (ज) धूम्रपान का त्याग (झ) साईकिल पर बैठ बाजार न घूमना (य) पंच प्रतिक्रमण के ज्ञाता न होने तक किसी को दीक्षा न देना। (ट) पर्व-तिथियों में प्रतिक्रमण अवश्य करना। इन प्रस्तावों से प्रगट है कि वर्तमान में इन सब बातों के विपरीत प्रचार है, तभी इनका विरोध समर्थन की आवश्यकता हुई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org